

सकल बन ढूँँ : एक सांगीतक श्रीलाल शुक्ल

बाबा अंबिकानंदनशरण ने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए गदगद कंठ से कहा, 'धन्य है! धन्य है प्रभु, आपने ऐसा संगीत सुनाया है कि धन्य है! धन्य है!'

इसके पहले नगर की प्रसिद्ध गायिका सुरमादेवी ने लगभग घंटे-भर तक खयाल का गायन किया था। खयाल के बोल थे, 'सकल बन ढूँँ।' सुरमादेवी के गाने की विशेषता यह थी कि जो उसे सुन कर नहीं समझ पाते थे वे उनको देख कर समझ जाते थे। इसी नीति से उन्होंने ऐसी-ऐसी मुद्राएँ दिखाई कि साफ जाहिर हो गया कि वे विरहिणी हैं और किसी को ढूँँने के लिए जंगल-जंगल मारी-मारी फिर रही हैं। वे बार-बार आसमान कि ओर देख कर कहती थीं, 'सकल बन ढूँँ।' इससे जान पड़ता था कि संसार के सब जंगल आसमान में ही उगे हैं और उनका प्रेमी वहीं कहीं छिपा है। जब कभी वे उपेक्षा के साथ तबले और तानपूरे वाले की ओर देखतीं तो लगता मानो वे जंगल के किनारे-किनारे घूमने-फिरने वाले सियार हैं। कभी-कभी वे श्रोताओं की ओर बड़ी ही भयपूर्ण मुद्रा बना कर देखतीं जिससे जान पड़ता कि वे जंगल में घूमने वाले भालू या शेर हैं। फर्श पर बिछे हुए कालीन पर वे इस प्रकार से हाथ-पैर पटकतीं कि लगता यह कालीन नहीं है बल्कि उसी जंगल की कँटीली घास है। इस प्रकार वन की भंयकरता दिखा कर सुरमादेवी बार-बार करुण आवाज में चीखतीं, 'सकल बन ढूँँ', 'सकल बन ढूँँ'।

सुननेवालों में बाबू राधाकांत की परिहास-भावना बहुत ही विकसित थी। इसी कारण सभ्य समाज में वे मूर्ख समझे जाते थे और विकप्रायः उनकी ओछी तबीयत की निंदा हुआ करती थी। उन्होंने बाबा अंबिकानंदनशरण से हँस कर कहा, 'धन्य है। बाबाजी, धन्य है। इस पद में सुरमादेवी ने जो ब्रह्म-चर्चा की है, उसे योगी ही समझ सकते हैं।'

बाबा जी ने राधाकांत को एक बार तिरस्कार के साथ देख कर फिर गंभीरता के साथ कहा, 'सत्य वचन है प्रभु, यह ब्रह्म-चर्चा ही है। सकल बन है क्या, अखिल ब्रह्मांड में व्याप्त चौरासी कोटि योनियों का प्रपंच है जो, सोई सकल बन है। परमात्मा से मिलने को परम व्याकुल है चित्त जिसका उन योनियों में भ्रमण करती हुई आत्मा ही प्रेमी-रूप है। जिससे मिलने को चित्त चलायमान है वह परमात्मा ही प्रेमिका-रूप है। उसी भाव में ओत-प्रोत है जो, सोई यह पद है। उस पदावली के गायन में आकंठ मग्न हैं जो वे सुरमा देवी ही इस ब्रह्म-चर्चा की प्रवर्तिका हैं। इस कारण से वे धन्य हैं।'

इस बार प्रोफेसर देवानंद ने कहा, 'आप अपनी जगह सत्य कहते हैं, पर सच बात यह है कि ब्रह्म-चर्चा इस प्रकार नहीं होती। यह ब्रह्म-चर्चा नहीं है। इस पंक्ति में विप्रलंभ श्रृंगार का वर्णन है। इसी पंक्ति के गवाक्ष से भारत की प्राचीन संस्कृति झाँक रही है। हमारी सनातन संस्कृति और तपस्या का इतिहास इसी, 'सकल बन ढूँँ' में निहित है।'

इस बार सुरमादेवी ने आश्चर्य से प्रोफेसर देवानंद की ओर देखा, बोलीं, 'सो कैसे प्रोफेसर साहब?'

प्रोफेसर साहब भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के प्रकांड पंडित हैं। प्रकांड इसलिए कि जहाँ पंडित होता है वहाँ प्रकांड आ ही जाता है। अतः वे बोले, 'आपने सुना कि विरहिणी नायिका नायक को समस्त वनों में ढूँढ़ती हुई घूम रही है। अब प्रश्न यह है कि वह नायक को ढूँढ़ने के लिए वनों में ही क्यों गई, नगर में क्यों नहीं आई? इसका उत्तर हमारी प्राचीन आरण्यक संस्कृति में मिलता है। नायिका को यदि अपने नायक को ढूँढ़ने के लिए जाना पड़े तो वह कहाँ जाएगी? कॉफी हाऊस में, रेस्ट्रॉ में, क्लब में, बार में। परंतु यह हमारी संस्कृति नहीं है। हमारी संस्कृति में तो नायक पहले पचीस वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक वनों में ही निवास करता है। फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। फिर वाणप्रस्थी हो जाता है अर्थात् वन की ओर पुनः प्रस्थान करता है। "सकल बन ढूँढ़ूँ", यह पद हमारा ध्यान इसी आरण्यक संस्कृति की ओर खींचता है। और धन्य है वह बाला वियोगिनी नायिका जो अपने प्रिय से मिलने के लिए वनों में भटकती है!'

कहते-कहते प्रोफेसर साहब भाव-विभोर हो उठे। तालाब में मुँह डाल कर पानी पीते हुए बैल की तरह कुछ रुक कर और फिर एक विकट उच्छवास निकाल कर वे फिर पहले की भाँति भावलीन हो गए।

प्रोफेसर साहब की बात से कॉमरेड शंकर का घोर अपमान हुआ। अपने जमाने के वे घोर क्रांतिकारी रह चुके थे। अब चूँकि उनका जमाना खत्म हो चुका था इसलिए वे साँस लेते थे और जीते थे और इसी आजादी को गनीमत मानते थे। पर जहाँ इस प्रकार की बहस हो रही हो वहाँ चुप रहने में उनका अपमान था। इसलिए उन्होंने चीखकर कहा, 'यह सब निरी बकवास है प्रोफेसर साहब! ये गीत जन-जागरण के गीत हैं, इन्हें गद्गार नहीं समझ सकते। इन्हें वही समझ सकते हैं जो "सिर पर कफन को बाँधे कातिल को ढूँढ़ते हैं"। इसमें हीरोइन, जाहिर है, गाँव की भोली-भाली लड़की है। हीरो रेवल्यूशनरी है। वह अडरगाउंड हो कर जंगल में जा छिपा है। हीरोइन अपने हीरो से, अपने फ्रेंड, फिलास्फर और गाइड से मिलने के लिए जंगल में जाती है। किसलिए? जानते हैं आप? उस तहरीक में, उस मूवमेंट में, जान डालने के लिए। "सकल बन ढूँढ़ूँ" आपने "पथेर दावी" नहीं पढ़ा? पढ़ लीजिएगा!'

कॉमरेड की बात सुन कर महाकवि मयूर जी अगाध आत्मविश्वास के साथ मंद-मंद हँसने लगे और बिना कहे ही कह ले गए कि ऐसी बात के कहने व सुननेवाले दोनों ही निर्बोध हैं। सुरमादेवी ने पूछा, 'क्या हुआ मयूर जी' मयूर जी की आँखों में एक चमक टिमटिमाने लगी जो कि कभी-कभी पुरानी बैटरी वाली टॉर्च में बटन दबाने पर अचानक उभर आती है।

मयूर जी बोले, 'देवी, यह सब व्याकरण की ही माया है। इसीलिए सब पर ऐसा भ्रम छाया है। इस गीत में तो नायिका है यही कहती कि मैं प्रिय सकल बन कर तुम्हें ढूँढ़ती। जिस रूप में तुम मिलो वही बनाऊँगी। सबकुछ बनूँगी तभी तो तुम्हें पाऊँगी।'

मयूर जी कहते गए, 'कैसा है उदात्त भाव! इसे भी तो देखिए। पहले के किसी कवि का कहा परखिए। बोली नायिका "तुम्हें सभी विधि रिझाऊँगी, सैंया, तोरी गोदी फुलगेंदा बनि जाऊँगी"। आगे कहता है कवि, "सैंया, तुम्हें भूख जो लगेगी तो लड्डू बालूसाही बन जाऊँगी।" अथवा, "हे सैंया, तुम्हें प्यास जो लगेगी तो गंगा-जमुना औ सरसुती बनि जाऊँगी।" ऐसा ही किसी ने सिनेमा में कहा था कि "फूल हो सजन तुम, मेरो मन भँवरा।" इस गीत में भी देवी, नायिका तैयार है नायक के अनुरूप रूप को बनाने को। प्रेम की, समर्पण की यही पराकाष्ठा है। यही है आदर्श, यही भारतीय काव्य है। सकल अर्थात् सभी बन कर ढूँढ़ूँगी।'

इस पर श्रेष्ठ समालोचक, महाकवि मयूर के पुराने दुश्मन, डॉ. दीपधर ने कहा, 'अरे मयूर साहब, आप सीधी-सी बात क्यों नहीं समझते? सब आपके हुक्म का करिश्मा है। जैसे गीदड़ की शामत आने पर वह शहर की ओर जाता है वैसे ही रीतिकाल की नायिका अपनी शामत आने पर जंगल की ओर जाती है। तभी आपने सुना होगा कि आभिसारिका काँटों को कुचलती है, साँपों को रौंदती है। वैसे, पहले आप-जैसे मयूर कभी-कभी उसकी चोटी को साँप समझ कर खींचते थे, चकोर मुँह पर चंद्रमा के धोखे में चोंच मारते थे। तोते ओठों का बिंबाफल उड़ा ले जाना चाहते थे। पर वह जंगल में जाती ही थी। आप जैसे कवियों का हुक्म जो था! बाद में आपके हुक्म से कुछ नायिकाएँ

क्षितिज के आस-पास आ गई। कुछ को मजदूरों की बस्तियों में जाने का हुक्म मिल गया। ये तो सब आपके हुक्म की बाँदियाँ हैं। जहाँ चाहिए, वहाँ चली जाएँगी। क्यों सुरमादेवी?"

सब सुरमादेवी के मुँह की ओर देखने लगे, तब उन्होंने धीरे-से मुस्करा कर कहा, 'हुक्म की क्या बात है, यह तो देश-देश के रिवाज पर चलता है। अपने देश में जंगल का ही चलन है, तो मयूर जी क्या करें? अपने यहाँ तो घर है, या जंगल है और है ही क्या? यह तो देश-देश पर है।'

इस पर बाबा अंबिकानंदनशरण ने अपनी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए गदगद कंठ से कहा, 'धन्य है! धन्य है! अब इसी बात पर देस का आलाप हो जाय प्रभू! धन्य है! धन्य है!'



[शीर्ष पर जाएँ](#)